

## लेखिकाओं की औपन्यासिक संरचना में समाज में स्त्री की स्थिति

डा. रतन कुमारी वर्मा

एसोशिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

जगत तारन गर्ल्स डिग्री कालेज, इलाहाबाद

भारतीय समाज पुरुष प्रधान समाज है। लेकिन इस समाज में पुरुषों के भी कई वर्ग हैं। जो उदारवादी विचारधार के पुरुष हैं, उन्हीं की देन है कि स्त्री में आवाज उठाने की हिम्मत पड़ी। यह वातावरण उदारवादी विचारकों, चिंतकों, की देन है। लेकिन पुरुषों का एक वर्ग ऐसा भी है जो पुरातन परम्परावादी, वर्चस्ववादी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। वह आज भी स्त्री को अपनी सुविधाओं के हिसाब से अधिकार, सुरक्षा देना चाहता है। स्त्रियों की अस्मिता, उसकी पहचान को लेकर उन्नीसवीं सदी में ही मंथन शुरू हो गया था। जान स्टुअर्ट मिल ऐसे ही उदारवादी चिंतक थे, जिनके चिंतन में स्त्री की अस्मिता का प्रश्न कौंध रहा था। उन्होंने 1869 ई0 में 'दि सब्जेक्शन ऑफ विमेन' नामक पुस्तक में स्त्री की सामाजिक स्थिति की गंभीरता पूर्वक पड़ताल की है। यह रचना उनके सुदीर्घ चिंतन का परिणाम है। इस पुस्तक की प्रस्तावना में ही उन्होंने लिखा है—“इस लेख का उद्देश्य अपने एक मत के धरातल को अपने सामर्थ्य के अनुसार स्पष्टतः व्यक्त करना है, जो मैं उस समय से रखता हूँ जब मैंने सामाजिक व राजनीतिक मामलात पर कोई स्पष्ट विचार नहीं बनाया था, और जो कमजोर होने या बदलने की बजाय मेरे जीवन की प्रगति, चिंतन व अनुभवों से निरंतर दृढ़ ही हो रहा है— यानी एक का दूसरे के कानूनी रूप से अधीन होना—स्वयं में ही गलत है और अब मानव विकास और सुधार की प्रक्रिया में मुख्य बाधा भी है, और यह कि अब इसका स्थान (स्त्री—पुरुष के बीच) पूर्ण समानता के सिद्धांत को ले लेना चाहिए जो न तो एक पक्ष को कानूनी सत्ता या सुविधा दे, न ही दूसरे को अशक्त बनाए।”<sup>1</sup>

समाज में प्रचलित कानूनी व्यवस्था भी स्त्री—पुरुष की गैर बराबरी की धारणा पर टिकी है। पूँजीवादी व्यवस्था में भी इस धारणा को ज्यों का ज्यों स्वीकार कर लिया गया। इस व्यवस्था के खिलाफ अब महिलायें अपनी आवाज उठाने लगी हैं। शिक्षा के प्रचार—प्रसार के कारण महिलायें अब इतनी सक्षम हो सकी हैं कि विभिन्न क्षेत्र में कार्य कर रही हैं। आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त कर रही हैं। साहित्य के धरातल पर कथा साहित्य में विशेष रूप से उपन्यासों में स्त्री जीवन के समग्र

यथार्थ का अंकन लेखिकायें कर रही हैं। परम्परागत जीवन मूल्यों में पिसती नारी के जीवन का चित्रण है, तो उसे उस जीवन से निकालकर स्वावलंबी जीवन जीने की आकांक्षा रखने वाली नारियों के जीवन का चित्रण भी कर रही हैं। इस दृष्टि से कुछ प्रमुख उपन्यास लेखिकाओं के उपन्यासों के आइने में स्त्री के जीवन के यथार्थ को देखा-परखा जा सकता है। कृष्णा सोबती, अलका सरावगी, रेखा कस्तवार, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग, प्रभा खेतान, नासिरा शर्मा, दीप्ति खण्डेलवाल, ऊषा प्रियंवदा, ममता कालिया, चित्रा मुद्गल, गीतांजली श्री, मेहरून्निशा परवेज आदि लेखिकाओं के उपन्यासों में समाज में नारी की वास्तविक स्थिति को समझा जा सकता है।

समाज में नारी की पारम्परिक छवि में यह आता है कि स्त्री तो सती सावित्री वाली रहे। वह कहाँ आती-जाती है, इसकी बराबर निगरानी होती रहती है। लेकिन पुरुष कहीं भी आये जाये, इसके विषय में स्त्री को कुछ भी जानने का हक नहीं है। कृष्णा सोबती 'दिलोदानिश' में स्त्री की इसी स्थिति का चित्रण करती हैं। कृपा नारायण अपनी पत्नी की अनदेखी कर अन्य स्त्री के पास जाता है। कृपा नारायण की माँ इस स्थिति को स्त्री की नियति मानकर स्वीकार कर लेती हैं। वह कहती हैं—“मरदों के हिस्से में आये हैं, महफिल, मुजरे, खेल, तमाशे और औरत को लगे हैं बाल-बच्चे, दिन, त्यौहार, पूजा-व्रत। रोने-धोने से क्या बदलने वाला है।”<sup>2</sup>

कहने का मतलब यह कि चली आ रही पुरुष प्रधान सामाजिक व्यवस्था को स्त्री आँख बन्द कर अंगीकार कर ले और परिवार के पालन-पोषण में ही अपने को लगाकर संतुष्ट रहे। पति कहाँ जाता है, उसकी परवाह न करे। यदि पुरुष पर स्त्री-गामी बनता है तो उसका भी दायित्व पत्नी पर ही डाला जाता है कि उसकी कमी के कारण वह अन्य स्त्री के पास जाता है।

मृदुला गर्ग 'वंशज' में परम्परागत स्त्री की स्थिति का अंकन करती हैं। सुधीर के लिए भावी पत्नी कैसी होगी, उसके विचार क्या होंगे और वह क्या करेगी। इसके विषय में स्पष्ट करते हुए वह लिखती हैं— “इसके लिए वह प्रथम होगा। उसके आ जाने पर वह अकेला नहीं रह जायेगा। कायदे-कानून की पाखण्डी दुनिया के बारे में, जो कुछ वह उसे समझायेगा, वह समझेगी। जो उसकी इच्छाएँ होंगी, उन्हीं के अनुरूप अपने को ढालेगी। हिन्दुस्तानी पत्नी पति का कितना आदर करती है, क्या वह जानता नहीं, उसका पूरा संसार वह होता है।”<sup>3</sup>

भारत के सामाजिक एवं सांस्कृतिक वर्चस्व की दुनिया में स्त्री को कोई स्वतन्त्रता नहीं दी गई है। उसे पराश्रित, पराधीन बनाये रखने के लिए ज्ञान—विज्ञान, कला, संस्कृति, साहित्य, दर्शन, चिंतन की दुनिया से दूर रखा गया ताकि वह शिक्षित, चेतन, सजग व आत्म निर्भर न बन सके। पुरुष की सत्ता को कायम रखने के लिए स्त्री स्वाधीनता का सदैव दमन किया गया। स्त्री की इस पारम्परिक छवि को बनाने में पितृसत्तात्मक व्यवस्था, धार्मिक शिक्षा, संस्कारों की प्रधानता, कर्तव्यों की लम्बी फेहरिस्त का प्रमुख कारण है। इसको स्पष्ट करते हुए राकेश कुमार कहते हैं— “आजादी के बाद जिस प्रकार का स्त्री लेखन सामने आया, उसने स्त्री की पारम्परिक छवि को ही गढ़ा। वह स्त्री—पुरुष के टूटते—बनते, बिगड़ते प्रेम सम्बन्धों, यौन सम्बन्धों तक ही सीमित रहा। ..... आज भी कोई स्त्री यदि कृष्णा सोबती, तसलीमा नसरीन, महाश्वेता देवी को पढ़ती है तो पढ़कर आश्चर्य ही व्यक्त करती है कि ये कैसी लेखिकायें हैं ? उनसे सहमत होते हुए भी उनसे परहेज करती है। उस खतरनाक वास्तव से घबराकर पीछे हटती है, उसे स्वीकारने का साहस उनमें नहीं है। क्या इसके लिए पितृक संस्कारों की भूमिका नहीं है।”<sup>4</sup>

स्त्रियों की इस मानसिक पराधीनता के मूल कारण क्या हैं ? इस पर विचार करते हुए सुधा सिंह लिखती हैं—“स्त्री की दासता का इतिहास दासप्रथा से भी पुराना है। हालाँकि मिल ने स्त्री की दासता का सम्बन्ध दासप्रथा से जोड़ा है जिसमें पुरुष और स्त्री दोनों दास होते थे और मालिक और दास के बीच में बल का वैध सम्बन्ध हुआ करता था। विकास की सामाजिक प्रक्रिया में पुरुषों की दासता तो खत्म हो गई किन्तु स्त्रियों की दासता की शकल पुरुषों पर नरम निर्भरता में बदल गई।”<sup>5</sup>

इस सन्दर्भ में जान स्टुअर्ट मिल का स्पष्ट विचार है कि— “स्त्रियों की निर्भरता दासता की आदिम अवस्था का ही एक रूप है। इसमें मौलिक पाशविकता का रोब आज भी है।”<sup>6</sup>

इस प्रकार स्त्री की पारम्परिक छवि के निर्माण में पितृसत्तात्मक संस्कारों के कारण स्त्री में स्वयं के अस्तित्व के प्रति सजगता का अभाव पाया जाता है, विद्रोह करने की चेतना जागृत नहीं हो पाती है और यदि विद्रोह मन में आता भी है तो उसको बाहरी संघर्ष के डर से दबा देती हैं और परिवार के भीतर ही अपना आश्रय ढूँढ़ती हैं। कृष्णा सोबती ने स्त्री की इस छवि को उकेरा है—“सोबती के लेखन में

औरत के निर्मम शोषण, उत्पीड़न, को उकेरा गया है कि कैसे स्त्री के लिए परिवार एक खुली दासता है, वहाँ पितृसत्तात्मक समाज का कड़ा अनुशासन है। कठोर नियम, बन्धन हैं, जिसमें वह बँधी हुई है, जिन्हें वह नियम, कायदों, रीतिरिवाजों, के नाम पर भोग रही हैं। रीति—रिवाजों के नाम पर स्त्री का जघन्य शोषण। परिवार स्त्री को कैसे अनुकूलित, अनुशासित, नियंत्रित करता है, इसकी समझ पितृसत्तात्मक समाज के अन्तर्विरोधों के जाने बिना नहीं हो सकती। परिवार की मान्यताएँ, धारणाएँ, नियम इतने कड़े हैं कि उन्हें तोड़ पाना, उसके प्रति अस्वीकृति रखना उसके लिए सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में वह कतरा—कतरा, टुकड़ा—टुकड़ा जीवन जीती मरती है।<sup>7</sup>

स्त्री के लिए पारिवारिक संरचना के भीतर आजादी हासिल करना आसान काम नहीं है। उसके साथ दोहरा व्यवहार होता है। ऊपर से स्त्री यह दिखावा करे कि वह खुश, संतुष्ट और सुखी है, जबकि मानसिक रूप से उसे कोई आजादी नहीं है। वह कोई भी निर्णय नहीं ले सकती है। उसका कर्तव्य है सेवा करना, त्याग करना, समर्पित रहना। परिवार के सुख—दुख की परवाह करना। उसे कोई अधिकार नहीं है। पारिवारिक सुरक्षा कवच के भीतर वह अपने को सुरक्षित महसूस करे और इसकी कीमत जिन्दगी भर चुकाती रहे। स्त्री की ऐसी ही छवि का अंकन करते हुए रेखा कस्तवार कहती हैं— “स्त्री न तो घर में अकेली देखी जा सकती है न घर के बाहर। घर के बाहर अकेली स्त्री एक असम्मानजनक स्थिति है। इसलिए ससम्मानिय स्त्री पुरुष के संरक्षण में पुरुष से सुरक्षा चाहती है, स्त्री है जिसके हाथ में न अपनी देह है, न पैसा और न ही अपने रिश्ते। स्त्री के पास पाने के लिए दो विकल्प हैं, सुरक्षा अथवा स्वतन्त्रता। वह एक को खोकर ही दूसरा पा सकती है। स्वतन्त्रता का जो खाका उसके सामने रखा गया है, वह उसे निर्वासन का दण्ड देता है और उसे मिलने वाली सुरक्षा बहुत महंगी है। सुरक्षा के बदले में वह जो कुछ सहन करती है, वह असहनशील है।<sup>8</sup>

पूर्णिमा वाजपेयी ने हमारे समाज में मध्य वर्ग की युवा होती स्त्री के अनुभवों का वर्णन किया है। उसे घर, परिवार, समाज में रहने की कैसे सीख दी जाती है। अपने अनुभवों को व्यक्त करते हुए कहती हैं कि वह न केवल घर में, बल्कि घर के बाहर भी सड़क पर, स्कूल में, कालेज में, यानी लगभग हर जगह उन्हें उन बन्धनों से अवगत कराया जाता रहा, जो स्त्री होने के कारण उन पर स्वाभाविक

रूप से लागू होते हैं। स्त्री की इस पारम्परिक छवि में औरत का आदर्श रूप त्याग, करुणा, शील, क्षमा, सहिष्णुता, ममता आदि गुणों के आधार पर परिगणित किया जाता है। अपने विषय में लिखती हैं—

“महीने भर नये स्कूल की व्यवस्था अखरती रही। बाद में तो जैसे हमारे बीच स्त्री बनने की होड़ सी लग गई। हम जोर से नहीं हँसते थे, क्योंकि यह स्त्रियोचित नहीं था। हम अध्यापक से पलटकर कोई सवाल नहीं पूछते थे, क्योंकि यह स्त्रियोचित नहीं था। इसी स्कूल की तीन अध्यापिकाओं ने मिलकर निष्कर्ष निकाला, यह लड़की तो आदर्श है, इसमें स्त्रियों के सातों ही गुण हैं— मैं झेंपू थी— यह लज्जा थी।

मैं संकोची थी— यह शील था।

मैं दब्बू थी— यह सहनशील थी।

जहाँ कोई व्यक्तित्व ही नहीं था, वहाँ एक आदर्श की सृष्टि हो चुकी थी।”<sup>9</sup>

इस तरह से नारी की परिभाषा गढ़ी जाती है। तब उसे आदर्श नारी घोषित किया जाता है। जहाँ कि नारी का स्वयं का कोई व्यक्तित्व उभरकर आ ही नहीं पाता है। यह सब कुछ परिवार, समाज, सिखाता है कि एक स्त्री को कैसे होना चाहिए। कैसे रहना चाहिए। सदियों से स्त्री का शोषण हो रहा है। लेखिकायें इस सत्य को बखूबी समझती हैं और इसके सत्य का उद्घाटन इसलिए करती हैं कि समस्त पुरुष यह न समझें कि स्त्रियाँ इस कुचक्र को समझ नहीं रही हैं। अपितु इससे निकलने का रास्ता खुद तलाश कर रही हैं। समाज में स्त्रियों की स्थिति का आकलन करते हुए ‘एक स्त्री का घोषणापत्र’ शीर्षक निबन्ध में मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं— “इतिहास साक्षी है कि पौराणिक युग की पाँच कन्याएं— अहिल्या, सीता, तारा, मन्दोदरी, और द्रौपदी विवेकशील स्त्रियाँ थीं, लेकिन वे अपने पातिव्रत्य और दैहिक पवित्रता के लिए ही जानी—पहचानी गयीं। उनके स्वामियों ने अपने विचार को, राय को, धारणाओं को कभी महत्त्वपूर्ण नहीं माना, बल्कि आस—पास के पुरुषों की मूर्खता पर उन्हें बलिदान करते रहे। यही इतिहास हमारी छातियों पर भी लदा है, इसलिए परिवार की इज्जत आबरू के बराबर वाले पलड़े में हमारी चारित्रिक शुचिता नापी जोखी जाती है, साथ ही हमें विचार शून्य और बुद्धिहीन मानकर हर कुशलता को नजरअंदाज करने का अनवरत सिलसिला चल रहा है।”<sup>10</sup>

डा. राम मनोहर लोहिया नारी को पाचवाँ वर्ण मानते थे। उनका विचार है कि— “संसार में जितने भी प्रकार के अन्याय इस पृथ्वी को विषाक्त कर रहे हैं, उनमें से सबसे बड़ा अन्याय नर और नारी के भेद का है।”<sup>11</sup>

प्रभा खेतान ने अपने उपन्यास ‘ छिन्नमस्ता ’ में स्त्री के इस संघर्ष को रेखांकित किया है। उपन्यास की नायिका प्रिया का जीवन मारवाड़ी समाज की घुटनभरी त्रासदी का शिकार है। वह शोषण के कई स्तर को झेलती है। उसके शोषण की क्रूर गाथा मारवाड़ी समाज की घुटनभरी संस्कृति से लेकर कारपोरेट कल्चर तक विस्तृत है। प्रिया समाज की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक हर स्तर पर शोषण का शिकार है। इस उपन्यास में लेखिका ने बड़े बेबाकी से पुरुषों की

इस दृष्टि को भी बेपरदा किया है कि उनकी सोच स्त्रियों के प्रति किस तरह भोगवादी होती है। नायिका प्रिया के माध्यम से स्त्री की भोगवादी, शोषण की स्थिति का बड़ा ही मार्मिक अंकन किया है— “औरत कहाँ नहीं रोती ? सड़क पर झाड़ू लगाते हुए, खेत में काम करते हुए, एयरपोर्ट पर बाथरूम साफ करते हुए या फिर सारे भोग—ऐश्वर्य के बावजूद मेरी सासू जी की तरह पलंग पर रात—रात भर अकेले करवटें बदलते हुए, हाड़ मास की बनी ये औरतें....., अपने अपने तरीके से जिन्दगी जीने की कोशिश में छटपटाती ये औरतें, हजारों सालों से इनके ये आँसू बहते आ रहे हैं।”<sup>12</sup>

अलका सरावगी कृत ‘कलि कथा : बाई पास’ अपनी औपन्यासिक संरचना में समाज के विस्तृत परिप्रक्ष्य को समेटे हुए है। लेकिन लेखिका ने उन स्थितियों का भी चित्रण किया है कि किस प्रकार पुत्र—पुत्री में अब भी समाज में भेद—भाव व्याप्त है। पुत्री को अपनी शिक्षा प्राप्त करने के लिए किस तरह संघर्ष करना पड़ता है। उसके प्रति अभी समाज में यही सोच है कि उसकी शादी कर दी जाये। अपना घर—संसार बसाये और उसी में खुश रहे। पिता हमेशा पुत्र को अपने पैरों पर खड़ा होना देखना चाहता है और पुत्री का प्रश्न आते ही विवाह योग्य उम्र होते ही शीघ्र उसका विवाह करके उससे मुक्त हो जाना चाहता है। ‘कलि कथा : बाई पास’ में पिता किशोरी लाल अपनी छोटी बेटी को स्नातक कराने के बाद शीघ्रता से उसका विवाह कर देना चाहते हैं। बेटी जब कानून की पढ़ाई के लिए जिद करती है तो स्त्री को मायके के द्वारा जो सबसे बड़ी सजा दी जाती है कि उसके मायके आने तथा रिश्ता खत्म करने की बात करते हैं। ऐसे दृष्टिकोण वाले पिता से किसी भी

बेटी को अपनी पढ़ाई के लिए जूझना पड़ता है। लेखिका वर्णन करती हैं— “ज्यादा पढ़ी हुई लड़कियाँ किशोर बाबू को हमेशा मर्दानी सी लगती हैं— पता नहीं, क्यों उनमें कोमलता गायब हो जाती है। इसलिए छोटी लड़की को डाँट समझाकर उन्होंने आगे पढ़ने से रोक लिया था और झटपट उसकी शादी कर डाली थी। जमाने की हवा खराब है और न जाने कब सिर पर भूत सवार हो जाये कुछ करने का। छोटी लड़की ने शादी के बाद अपने पति और सास—ससुर को इस बात के लिए पटा लिया था कि वह आगे वकालत करेगी। तब किशोर बाबू को ही बीच में दखल देना पड़ा था। नासमझ लोग हैं, अभी तो हाँ हाँ कर रहे हैं, जब उन पर ही केस ठोक देगी तब सिर थामकर रोयेंगे। उन्होंने छुटकी को धमकी दे दी थी—अगर लॉ कालेज में एडमिशन ले लिया, तो मेरे घर में कदम मत रखना।”<sup>13</sup>

प्रायः प्रेम विवाह करने पर इस तरह की धमकियाँ पिता से पुत्री को मिलना तो आम बात है, परन्तु समाज की सच्चाई यह भी है कि पिता पुत्री को अधिक पढ़ाना लिखाना नहीं चाहते कि उसका खुद का कैरियर बने, शिक्षित हो, आत्मनिर्भर बने। उसके मार्ग की बाधा खुद बनकर खड़े हो जाते हैं। समाज में जहाँ बेटियों को दबाया जाता है, वहीं वृद्ध होती माताओं की भी स्थिति और बदतर होती जाती है। समाज में पारम्परिक मूल्यों में हो रहे बदलाव का सबसे ज्यादा असर वृद्धों पर हो रहा है। पारम्परिक व्यवस्था में परिवार में जहाँ वृद्ध पूज्य समझे जाते थे, वहीं उनके साथ अब उपेक्षा का व्यवहार हो रहा है। ऊपर से स्त्री, जो सदा शोषित होती आई है, उसके पास किसी भी प्रकार की सम्पत्ति नहीं है, उससे किसी भी प्रकार से कुछ पाने की लालच नहीं है। समाज का यह कटु यथार्थ पक्ष है कि यदि आपके पास सम्पत्ति है तो बुढ़ापे में भी आपकी सेवा हो जायेगी। यह अधिकार समाज में पुरुषों के पास सुरक्षित है। क्योंकि बच्चों को यह डर रहता है कि अगर पिता की सेवा नहीं करेंगे तो वह अपनी सम्पत्ति से हमें बेदखल कर सकते हैं। अर्थ का यह आन्तरिक भय उनको पिता से जोड़े रहता है, परन्तु जीवन भर माता से सेवा लेने के बाद भी जब माता की सेवा करने की बात आती है, तब उन्हें उपेक्षित करके किनारे कर दिया जाता है। लेखिकाओं ने वृद्ध माता की स्थिति का बहुत ही संवेदनशील वर्णन किया है। गीतांजलि श्री का ‘माई’ उपन्यास में ऐसी ही माँ का चरित्र है जो कभी अपने लिए कुछ नहीं मागती और हर पल देने को और त्याग करने को तत्पर रहती हैं। वह स्वयं मिटने में ही अपने को सार्थक

समझती हैं— “माई ही थी जो वह प्रताड़ित रहने की प्रार्थना मुझ से करती थी, जो मुझे अपने लिए कुछ लेते ही अपराधी बना जाती, दूसरे को कुछ देते ही शहीद बना देती और ये दोनों ही न बनने की मेरी लड़ाई थी।”<sup>14</sup>

अपने वृद्धापन की अवस्थाओं में नारी का हृदय अपार स्नेह, करुणा की सागर, निर्मल प्रेम की निर्झरिणी बनकर अपने परिवार में अजस्र स्रोत को बहाकर सबको उसमें डुबोकर रखना चाहती है। उसकी आकांक्षा होती है कि जैसे उसने जीवन भर सबको सम्मान दिया, प्यार दिया उसी तरह बुढ़ापे में उसे भी मिले। लेकिन उसे मिलता है ठीक इसके विपरीत। जीवन भर खपने के बावजूद पितृसत्तात्मक व्यवस्था के मध्य पिसते हुए एक दिन माई इस दुनिया से अलविदा कह जाती है। छोड़ जाती है ढेर सारे सवाल अगली पीढ़ी के लिए। वह क्या करें ? माई के पदचिन्हों पर चले या उससे एक कदम आगे बढ़कर अपनी मान्यताओं को गढ़ें। माई की मृत्यु के बाद उसकी बेटी सुनैना महसूस करती है कि— “अब कहाँ से फिर शुरू करें माई के संग जीना कि वह हमारे नहीं, अपने ही रूप में दिखाई दें। ‘एक अलग माई’, न बाबू—दादा की गढ़ी, न हमारी गढ़ी। अपनी ही साँसों में भींजी—भींजी।”<sup>15</sup> पूरे उपन्यास में माई को तय रिश्तों की डोरी में बाँधकर ही उन्हें समझने की कोशिश की गई है। बाबू की आदर्श पत्नी के रूप में दादा—दादी की सेवा में रत कभी भी कुछ न बोलने वाली बहू के रूप में, बच्चे सुबोध, सुनैना ‘माई’ को माई की ड्योढ़ी से मुक्त करना चाहते हैं, सुनैना माई को ‘माई’ के रूप में ही पहचानती है ‘रज्जो’ के रूप में नहीं। माई को हमेशा उसकी भूमिकाओं के ‘धड़’ से पहचानने की कोशिश की गई, उसके सिर (व्यक्तित्व, पहचान, अस्मिता) उसके धड़ से जोड़ने की कोशिश नहीं की गई। गीतांजलि श्री ने इस उपन्यास के माध्यम से बेटी—माँ के रिश्तों के ताने—बाने में जो अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित होता है, उसका बहुत ही बारीकी से वर्णन किया है। बेटी माँ का विस्तार होती है जो उसे चीरजीविता प्रदान करती है। बेटी माँ का विस्तार होते हुए भी उसकी सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई भी उससे बँधी रहती है, वह कभी उससे दूर नहीं होती। इस उपन्यास में नारी के प्रति परम्परागत मूल्यों, उससे उपजे टकराहट, अन्तर्द्वन्द्व को भी रूपायित किया गया है। मैत्रेयी पुष्पा एक विशिष्ट उपन्यासकार हैं। अपने उपन्यासों— ‘इदन्नमम’, ‘अल्मा कबूतरी’, ‘चाक’, ‘झूलानट’ में जहाँ सशक्त स्त्री पात्रों की सर्जना कर पुरुष जगत को स्तब्ध कर दिया, ग्रामीण संस्कृत और परिदृश्य से सबको



परिचित कराया, किसान की दशा—दुर्दशा, आदमी और मशीन, लोकतंत्र, सहकारिता ग्रामीण विकास, बदलते गाँवों का बदरंग होता चेहरा, इंसानी रिश्तों की पहचान को बनाये रखने की कोशिश, गाँव की उर्वर, ऊबड़—खाबड़ जमीन पर पड़ती रिश्तों में दीवारें, दरारें, उन दरारों को मानवता से भरने की कोशिश को उपन्यासों के माध्यम से समझा जा सकता है, वहीं परम्परागत मूल्य में बँधी नारी की दुर्दशा का चित्रण भी ओझल नहीं होने पाता है।

‘इदन्नमम’ उपन्यास की मन्दा इस उपन्यास की केन्द्रीय पात्र है। बऊ परम्परागत पुराने खयालों वाली हैं। मन्दा स्त्री जाति का यातनामय इतिहास जानती है, सनातन निर्वासन, पुरुष दिमाग की चालाकियों और सामाजिक बदमाशियों की पीड़ा से भरी हुई, उनके रचित दुष्चक्र से मुकाबला करना भी जानती है। उसमें अपार प्रेम, सहानुभूति, करुणा का अगाध सागर भी है। वह अपनी माँ से मिलने जाती है। माँ की दुर्दशा देखकर वह दंग रह जाती है। उसके अन्दर क्या उबाल उठता है, उसकी मानसिक प्रतिक्रिया को मैत्रेयी जी ने वाणी दी है— “मैं तो खड़ी—खड़ी जड़ हो गई। पथरा गये होंठ। जीभ पर लकवा मार गया। शरीर कभी सुन्न..... बोलना चाहती हूँ मगर क्या बोलूँ ? कैसे कहूँ तुमसे ? कैसे ऊबारू तुम्हें ?”<sup>16</sup> मन्दा का यह आखिरी वाक्य केवल मन्दा की माँ के लिए नहीं है, अपितु संसार की सभी माँ के लिए है। माँ की पीड़ा को जितना बेटी पहचानती है, महसूस करती है, वह दूसरा कोई नहीं कर पाता। मन्दा की इस पीड़ा में समूची स्त्री जाति की पीड़ा समायी हुई है। स्त्री की इस स्थिति का वर्णन करके मैत्रेयी ने स्त्री की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक परिदृश्य में उसके सच से सबको अवगत कराया है और उसके इस रूप को बदलने की सतत चेष्टा की है। “समकालीन कथा लेखन में सक्रिय एक सशक्त हस्ताक्षर मैत्रेयी पुष्पा की कलम से निकली औपन्यासिक कृति ‘इदन्नमम’ में बुनी गई है तीन पीढ़ियों की बेहद सहज और संवेदनशील कहानी। कहानी जो बऊ (दादी), प्रेम (माँ) और मन्दा (उपन्यास की नायिका)—तीनों को समान्तर रखने के साथ—साथ, एक—दूसरे के विरुद्ध खड़ा भी करती है। विरोधाभास की इस प्रतीति को लेखिका ने सक्षमता, सूक्ष्मता और पारदर्शी भाषा जाल से बुना है जो अत्यन्त पठनीय है और अपने स्वर में मौलिक भी।”<sup>17</sup> विंध्य की धरती के संघर्षशील एवं शोषित पात्रों की कहानी कहता हुआ यह उपन्यास अद्भुत है। कृष्णा सोबती भी तीन पीढ़ियों की मानसिकता को एकता के सूत्र

में पिरोने का प्रयास अपने लेखन के माध्यम से करती है। 'ए लड़की' में तीन पीढ़ियों के पारस्परिक सम्बन्धों की स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखती हैं— "प्रत्येक व्यक्ति में तीन पीढ़ियों की सम्भावना रहती है, एक माता—पिता के माध्यम से परम्परा मिलती है, दूसरी जिसे अपने परिवेश के साथ मिलकर बनाता है, तीसरी जो वह नहीं बन पाता, अपनी अगली पीढ़ी को बनाने में हस्तान्तरित करता है। स्त्री अपनी परम्परा अपनी बेटी के माध्यम से शाश्वत बनाती है।"<sup>18</sup> अधिकांशतया मातायें अपनी बेटी को अपने समरूप गढ़ना चाहती हैं ताकि वह सुखी, समृद्ध व शान्त जीवन जी सके। लेकिन ऐसे जीवन में घुटन की त्रासदी छिपी रहती है। अब माताओं के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हो रहा है। वह बेटी के लिए सहारा बनकर उनके साथ खड़ी भी हो रही हैं। वह जो नहीं बन पायीं, अपनी बेटी को बनाना चाहती हैं। कृष्णा सोबती लिखती हैं—"अपनी समरूपा उत्पन्न करना माँ के लिए बड़ा महत्वकारी है, पुण्य है। बेटी के पैदा होते ही माँ सदाजीवा हो जाती है। वह कभी नहीं मरती। हो उठती है वह निरन्तर। वह आज है, कल भी रहेगी। माँ से बेटी तक, बेटी से उसकी बेटी से भी अगली बेटी। अगली से भी अगली। वही सृष्टि का स्रोत है।"<sup>19</sup>

चित्रा मुद्गल स्वयं परम्परा से टकराने वाली, विद्रोह करने वाली नारी के रूप में जीती जागती मिसाल हैं। अपनी माँ की घुटनभरी जिन्दगी त्यागकर हौसले से अपने जीवन के नये पथ का निर्माण करती हैं। सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की जयन्ती बसंत पंचमी के अवसर पर वर्ष 2014—2015 में सेंट जोसेफ कालेज, हेगन हाल के सभागार में इलाहाबाद में उन्हें सम्मानित किया जाना था। उस समय वरिष्ठ कथाकार दूधनाथ सिंह भी उस समारोह में वक्ता के रूप में उपस्थित थे। चित्रा मुद्गल ने अपनी जीवन यात्रा की पीड़ा को मंच से सबके समक्ष साझा किया। परिवार से विद्रोह की क्या कीमत चुकानी पड़ी, इसका भावपूर्ण स्मरण किया। उन्नाव के जिस गाँव में जन्मी थीं, वहा काली माँ के स्थान को देखने के बहाने से अपनी मातृभूमि को देखने गई थीं। गाँव वालों ने मिलकर यहाँ इलाहाबाद में आकर उनका बहुत सम्मान किया और भेंट दिया। जीवन के चौथेपन के पड़ाव पर वह अपने गाँव के लोगों से मिलकर बहुत भावुक भी हुईं और गद्गद् भी। अपने सारे अनुभवों को उन्होंने अपने प्रतिष्ठित उपन्यास 'आवाँ' में आकार दिया है। इसका फलक अत्यन्त विस्तृत है। बम्बई की पृष्ठभूमि पर रचित इस उपन्यास का कथा

वृत्तान्त जीवन के कटु यथार्थ में स्त्री के तमाम सन्दर्भों को अपने में समेटे हुए है। इसमें मजदूरों के आन्दोलनों की गूँज है। शिवसेना के राजनीतिक उभार के परिदृश्य को भी अंकित किया गया है। श्रमजीवी महिलाओं का कई स्तर पर शोषण और उनकी संघर्ष चेतना से मुखरित भी यह उपन्यास है। समृद्ध एवं ऐश्वर्यमय मायानगरी बम्बई की भोगपरक उच्चवर्गीय दुनिया तक यह उपन्यास फैला हुआ है। उपन्यास में स्त्री की लड़ाई एकतरफ पुरुषवादी मानसिकता व उसके वर्चस्व के खिलाफ है जो सदियों से उसका शोषक रहा है तो दूसरी तरफ स्त्री के प्रतिपक्ष में खड़ी स्त्री भी है। शिवकुमार मिश्र का विचार है कि स्त्री की लड़ाई में उसकी सबसे बड़ी प्रतिद्वन्दी औरत खुद है। “गुलामी को एक सुख की तरह भोगती औरत, लुभावने और मोहक विशेषणों से ठगी हुई औरत, सदियों के संस्कारों से जड़ी-मड़ी औरत, उन्हें मूल्य और आदर्शों के रूप में छाती से चिपकाए हुए औरत, और जब औरत ही सामने हो तो लड़ाई कितनी कठिन होगी, अनुमान किया जा सकता है। इस भीतरी लड़ाई को औरत को खुद अपने से लड़ना है, अपने भीतर विद्यमान सदियों की संस्कारबद्धता से लड़ना है।”<sup>20</sup>

चित्रा मुद्गल ने स्त्री की इस बहुस्तरीय लड़ाई को स्वयं लड़ा है, जिया है, अनुभव किया है और अपने उन अनुभवों को विभिन्न पात्रों के माध्यम से अत्यन्त प्रामाणिकता के साथ जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया है। दुनिया में औरत ही एक अकेली ऐसी प्राणी है जिसको इस दुनिया में आने के लिए भी संघर्ष करना पड़ता है, आने से पहले मार भी दिया जाता है। स्त्री के इस क्रूर सत्य से समाज आंखें नहीं मींच सकता है।

मूलतः इलाहाबाद की ही नासिरा शर्मा ने ‘ठीकरे की मंगनी’ उपन्यास में मुस्लिम समाज में स्त्रियों की स्थिति का वर्णन किया है। मुस्लिम समाज में व्याप्त अशिक्षा, नारी की विवशता का विस्तृत वर्णन किया है। वे लिखती हैं— “औरत को बनाते हुए खुदा ने कोख तो उसी के वजूद से बनाई है, अपने बाद सृष्टि का अधिकार उसे ही दिया है। फिर उसका श्रेय मर्दों के नाम पर किसने चढ़ा दिया है। लेकिन इस प्रश्न तक पहुँचने के पूर्व महरूख को जिस ऊबड़-खाबड़ पगडंडियों से होकर गुजरना पड़ा, वह नारी अस्मिता के प्रश्न को नई अर्थवत्ता प्रदान करता है। लेकिन नारी अस्मिता की यह तलाश ‘अस्तित्ववाद’ में न होकर जिस सामाजिक रूपांतरण में होती है। वह नासिरा शर्मा की दृष्टि सम्पन्नता का परिचायक है। यह

नारीवादी का सामाजिक परिप्रेक्ष्य भी है।<sup>21</sup> स्त्रियों की स्थिति पर चिन्ता प्रकट करते हुए स्वयं नासिरा शर्मा लिखती हैं— “औरतें और अनुराग, स्त्रियाँ और कोमलता, महिलायें और मर्यादा— ये ऐसे शब्द हैं जिनमें निष्ठा, आस्था, अंधविश्वास की जगह तो है, मगर समझ तर्क, कानून का स्थान नहीं है। मर्द समाज ने औरतों से जवाब सुनना कभी पसंद नहीं किया और न ही उसकी समझदारी को आदर की दृष्टि के साथ देखा। जो कानून बने उसका लाभ उसको कभी उठाने नहीं दिया गया। दरअसल वे औरतों की अथाह शक्ति से हमेशा घबराये, मगर जिन मर्दों के मन में औरत को लेकर कोई ग्रंथि नहीं रही, उन्होंने औरत जात के लिए हमेशा रास्ता साफ किया, उन्हें अपने बराबर खड़ा किया और उनके महत्त्व को समझा। उनके लिए कानून बनाये।<sup>22</sup>”

वर्तमान समय में लेखिकाओं के मन में जो प्रश्न कौंध रहे हैं और उनको लेकर रचनात्मकता के धरातल पर जो अभिव्यक्ति कर रही हैं। इस अभिव्यक्ति के माध्यम से वह समाज में बदलवाव चाहती हैं। यह चिन्ता समाज में तब से ही व्याप्त है, जब से स्त्रियाँ शिक्षित होने लगीं। यह बहुत स्वाभाविक भी था। जो भुक्तभोगी होगा वह अपनी पीड़ा के कारणों की खोज तो करेगा ही। आधुनिक काल में प्रतिष्ठित लेखिकाओं, कवयित्रियों के रूप में हमेशा महादेवी वर्मा को याद किया जाता है। उनके चिन्तन को समझे बिना स्त्री पीड़ा को समझना आसान नहीं है। महादेवी वर्मा ने स्त्री होने की पीड़ा को हर स्तर पर स्वयं अनुभव किया। उनके चिन्तन का आधार बना ‘थेरीगाथाओ’ में व्यक्त थेरियों की गाथाओं से, जिसमें उनकी पीड़ा भरी हुई है। महादेवी जी स्वयं बौद्ध धर्म में दीक्षित होना चाहती थीं। किन्तु जब देखा कि जिसे गुरु बनाना चाहती हैं, वही अपने मुख के समक्ष काठ रखकर महादेवी वर्मा से बात कर रहा है। उनका मोह भंग हो गया और अपने ढंग से जीवन को जो समझा, वह उन्होंने लिखा। ‘श्रृंखला की कड़िया’ स्त्रियों की पीड़ा का दस्तावेज है जिसमें स्त्रियों की स्थिति का विस्तार से वर्णन है। स्त्रियों की आर्थिक परतंत्रता के विषय में लिखती हैं— “वास्तव में स्त्री की स्थिति के विषय में कुछ भी निश्चित होने से पहले पुरुष को अपनी स्थिति निश्चित कर लेना होगा। समय अपनी परिवर्तनशील गति में उसके देवत्व और स्त्री के दासत्व को बहा ही ले गया है, अब या तो दोनों को विकासशील मनुष्य बनना होगा या केवल यंत्र।<sup>23</sup>” स्त्री की स्थिति पर जब भी विचार किया जायेगा तो निश्चय ही महादेवी वर्मा और

उनकी श्रृंखला की कड़ियाँ को भी याद किये बिना बात पूरी नहीं होगी। इसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही नहीं है अपितु वर्तमान में भी अत्यन्त प्रासंगिक है। मैनेजर पांडेय ने लिखा हैं— “ ‘श्रृंखला की कड़ियाँ’ में भारतीय स्त्री की पराधीनता की प्रत्येक स्थिति की पहचान है और उससे मुक्ति की राहों की खोज की चिन्ता भी है।”<sup>24</sup>

स्त्री की सामाजिक स्थिति की पड़ताल करने के पीछे तथ्य यह है कि वर्तमान परिदृश्य में भी हम परिवारों में परम्परागत मूल्यों को ढोने वाली स्त्री की स्थिति को पहचाने, उसकी स्थिति के बदलाव लाने के लिए प्रयत्न करें ताकि समूची स्त्री जाति का उत्थान हो सके। इस चिन्ता को रेखा कस्तवार व्यक्त करती हैं— “ ‘स्त्री विमर्श’ स्त्री के जीवन के अनछुए, अनजाने पीड़ा जगत के उद्घाटन का अवसर उपलब्ध कराता है परन्तु उसका उद्देश्य साहित्य एवं जीवन में स्त्री के दोगमदर्जे की स्थिति पर पर आँसू बहाने और यथास्थिति बनाये रखने के स्थान पर उन कारकों की खोज से है, जो स्त्री की इस स्थिति के लिए जिम्मेदार हैं। स्त्री के शोषण के सूत्र जहाँ बच्चों को बेटे और बेटे की तरह अलग-अलग ढंग से बड़ा करने और गलत ढंग से समाजीकरण से जुड़ते हैं, वहीं प्रजनन व यौन संबंधी शोषण से भी। तुलनात्मक व्यवस्था और आर्थिक परावलम्बन स्त्री के शोषण को गहरा करते हैं।”<sup>24</sup> आज की स्त्री इस शोषण से मुक्ति चाहती है। स्त्री की मुक्ति की आकांक्षा को अभिव्यक्त करते हुए प्रभा खेतान लिखती हैं—“आज हमें सोचना है कि अपनी अस्मिता को पुनः कैसे परिभाषित करें ? हमारे सामने पहले से कोई संयुक्त आदर्श मौजूद नहीं है। अतः स्त्री का मसीहा स्त्री खुद है।” अब स्त्री को यह रास्ता खुद तय करना है, खुद बनाना है। एक ऐसी नई परम्परा की खोज करना है जो स्त्री-पुरुष की समतावादी, मानवतावादी विचारधारा पर आधारित हो, जिसमें कोई भी एक-दूसरे का शोषक न हो। शोषण और शोषक का सम्बन्ध समाप्त हो, सहयोग, समानता, स्वतन्त्रता, आदर, सम्मान की नींव पर टिका समाज निर्मित हो, जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों खुलकर सांस ले सकें, आनन्दमय जीवन जी सकें। जिससे स्त्री की आखों में आसूँ न आये। स्त्री की आखों में आये आँसू को स्त्री की कमजोरी मानकर समाज में उसकी खिल्ली उड़ायी जाती है। खिल्ली उड़ाये जाने के कारणों की खोज की जानी चाहिए और उनमें सुधार की जरूरत है। पीड़ित की पीड़ा को आनन्द का विषय या विजय की वीरगाथा न बनाई जाये,

अपितु ऐसे स्वस्थ सामाजिक वातावरण का निर्माण किया जाये जिसमें स्त्री भी हौले-हौले मुस्कुराना सीखे। स्त्री घुटन से, मानसिक तनाव से बाहर निकल सके। मानव की श्रेष्ठ योनि में जन्म पाकर वह भी खुद को गौरवान्वित समझे। इसी दिशा में लेखिकाओं का यह प्रयास स्तुत्य है कि उन्होंने अपनी लेखनी के द्वारा समाज का ध्यान स्त्रियों की तरफ आकृष्ट किया है। समाज में स्त्रियों की स्थिति पर विचार करना जितना स्त्रियों के लिए आवश्यक है उतना ही पुरुषों की भी जिम्मेदारी है। जिस दिन शोषक वर्ग में यह चेतना आ जायेगी कि हमें शोषण नहीं करना है, निश्चित रूप से स्त्रियों की स्थिति में अपेक्षित सुधार समाज के पटल पर दिखाई देने लगेगा और स्त्रियाँ भी सम्मानपूर्वक जीवन जीने का अवसर प्राप्त कर सकेंगी।

## सन्दर्भ सूची—

1. मिल, स्त्रियों की पराधीनता, सक्सेना प्रगति (अनु0) 2002, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना, पृष्ठ—33.
2. कृष्णा सोबती, दिलोदानिश, पृष्ठ—83.
3. मृदुला गर्ग, वंशज, पृष्ठ—64.
4. राकेश कुमार, नारीवादी विमर्श : हिन्दी में स्त्री लेखन : दशा व दिशा, पृष्ठ—45.
5. सं० जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री अस्मिता : साहित्य और विचारधारा, आनन्द प्रकाशन, कोलकाता, 2004, पृष्ठ—14.
6. मिल, स्त्रियों की पराधीनता, सक्सेना प्रगति (अनु0) 2002, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना, पृष्ठ—37.
7. राकेश कुमार कृष्णा सोबती का स्त्रीत्ववादी परिप्रेक्ष्य : नारी विमर्श, पृष्ठ—209.
8. रेखा कस्तवार, स्त्री : मुक्ति का सपना, अकेली, राजकिशोर (सम्पादन), स्त्री, पृष्ठ—607.
9. पूर्णिमा वाजपेयी, स्त्री के लिए जगह, पृष्ठ—11.
10. राजकिशोर, स्त्री, परम्परा और आधुनिकता, वाणी प्रकाशन, 2010, पृष्ठ—168.
11. डा. नामवर सिंह, आधुनिक हिन्दी उपन्यास—2, पृष्ठ 19—20.
12. प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ—220.
13. अलका सरावगी, कलि कथा : बाई पास, पृष्ठ—58.
14. गीतांजलि श्री, माई, पृष्ठ—61.

15. वही, पृष्ठ-92.
16. मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृष्ठ-113.
17. मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, कवरपृष्ठ पर अंकित।
18. कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, राजकमल प्रकाशन, 1999, पृष्ठ-17.
19. वही, पृष्ठ 48-49.
20. शिवकुमार मिश्र, आधुनिक हिन्दी उपन्यास-2, पृष्ठ-62.
21. आधुनिक हिन्दी उपन्यास-2, पृष्ठ-20.
22. नासिरा शर्मा, औरत के लिए औरत, सामायिक प्रकाशन, पृष्ठ 80-81.
23. महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ-75.
24. मैनेजर पाण्डेय, अनमै साँचा, वाणी प्रकाशन, 2012, पृष्ठ-196.
25. रेखा कस्तवार, स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ 22-23.